श्रीमद् विद्यारण्य-स्वामि-विरचित

दुर्वासना--प्रतीकार--दशकम्

सरल हिन्दी व्याख्या सहितम्

व्याख्याकार—

श्रीविभूषित ब्रह्मविद्वर्य विरक्त-मुकुटमणि

श्रीमत् १०८ महाराज ब्रह्मप्रकाश जी

लेखक—

परिपूर्णानन्द गिरि "पूरण"

हृषीकेश (उत्तर-प्रदेश)

सहायक—

स्वामी सम्पूर्णानन्द गिरि

प्रथमवार १००० आश्विन २०१५ धर्मार्थ

साधनपञ्चकम्

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतमपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥१॥

सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयतां
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु सन्त्यज्यताम् ।
सद्विद्वानुपसर्प्यतां प्रतिदिनं तत्पादुके सेव्यतां
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरो वाक्यं समाकर्ण्यताम् ॥२॥

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरः पक्षः समाश्रीयतां
दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम् ।
ब्रह्मैवास्मि विभाव्यतामहरहर्गर्वः परित्यज्यतां
देहेऽहंमतिरुज्झ्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यतां ॥३॥

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम्
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम् ।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥४॥

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥५॥

यः श्लोकपञ्चकमिदं पठते मनुष्यः सञ्चिन्तयत्यनुदिनं स्थिरतामुपेत्य
तस्याशु संसृतिदवानलतीव्रघोरतापः प्रशान्तिमुपयाति चितिप्रसादात् ।

साथ सायंकाल श्रीमद्भागवत के तत्व अर्थ जिसमें ब्रह्मात्मैकत्व का प्रतिपादन किया गया है। जैसा कि भगवान् व्यास स्वयं श्रीमद्भागवत के अन्त में कहते हैं कि "ब्रह्मात्मैकत्व लक्षण जो सर्व वेदान्तों का सार है अर्थात् जो अद्वितीय वस्तु है इसी में श्रीमद्भागवत् की निष्ठा है अर्थात् अद्वैत वस्तु को ही श्रीमद् भागवत् विषय करता है। और कैवल्य मोक्ष ही इसका प्रयोजन है।" उसके के कथन और श्रवण में हमारा समय व्यतीत होवे। इस के अनन्तर रात्रि के तीन प्रहर का समय दिन भर के श्रवण और मनन किये हुये अर्थों का अनात्माकार विजातीय वृत्तियों के तिरस्कार पूर्वक आत्माकार सजातीय वृत्तियों का प्रवाहकरण रूप जो निदिध्यासन है उसमें व्यतीत होवे।

शङ्का—दिन और रात्रि के आठों प्रहर यदि इसी प्रकार आत्मचिन्तन में ही व्यतीत कर दिये गये तो शरीर का खान पान भरण पोषण उपजीविका आदि किस प्रकार होगी ? इसी के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि शरीर का भरण पोषण भगवान अन्तर्यामि परमात्मा ने पहले ही प्रारब्ध के समर्पण किया हुआ है। जैसे कहा है कि "पहले बनी प्रारब्ध पीछे बना शरीर"। जीव जब गर्भ में था तो बिना परिश्रम किये माता के उदर में इसका भरण पोषण होता रहा। और गर्भ से जब बाहर आया तो पहले ही माता के स्तनों में दूध तय्यार मिला। वह दूध जीव के पुरुषार्थ से उत्पन्न नहीं हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् स्वयं प्रतिज्ञा करते हैं:— "निर्योगक्षेम आत्मवान् (भव)" "योग क्षेमं वहाम्यहम्"। हे अर्जुन। तू अप्राप्त की प्राप्तिरूप योग और

प्राप्त की रक्षा रूप क्षेम वाला न हो। योग और क्षेम को मैं वाहन अर्थात सम्पादन करता हूं। युक्ति से भी सिद्ध है कि जो जिस जीव की प्रारब्ध है। वह उसे अवश्य प्राप्त होती है। जैसे बच्चे, वृद्ध अथवा भजन शील पुरुष कुछ उद्योग न करके भी अपनी अपनी प्रारब्ध से खान पान को प्राप्त कर रहे हैं। मूर्ख पुरुष अविचार से यह जानते हैं। कि हमको जो भोग्य पदार्थ प्राप्त हो रहे हैं यह हमारे ही उद्यम और प्रयत्न का फल है। परन्तु यह नहीं जानते कि इनकी प्राप्ति का भार तो फिर भी ईश्वर पर ही है। जैसे रजब जी ने कहा है:—

अश्वगजिन्द बोहथ चढ़े मूरख चाये सिर भार।
त्यों रजब सिर राम के पच पच मरें गंवार॥

अर्थ यह कि मूर्ख पुरुष घोड़े पर या हाथी पर या नौका पर चढ़ कर भी बोझे को अपने शिर पर रख कर व्यर्थ ही अपनी ग्रीवा तुड़वा लेता है। बोझ तो फिर भी अश्व, हाथी या नौका पर ही है।

शङ्का:—शरीर के धारणार्थ खान पान शौच स्नानादि शारीरक क्रियायें जो आवश्यक हैं वह तो अनिवार्य हैं करनी ही पड़ेंगी?

समाधान। इन खानपानादि आवश्यक क्रियाओं में चित्त भगवच्चिन्तन में लग सक्ता है। इस लिये इन के करने पर व्यवधान नहीं पड़ता। स्वाभाविक शरीर और इन्द्रियों की क्रियाऐं पूर्व संस्कार से होती जाती हैं। इसलिये इनके होने पर भी भजन में कोई बाधा नहीं हो सक्ती। उपजीविका आदिक के लिए अधिक

क्रियाओं के करने से भजन में बाधा पड़ती है। सो ग्रन्थकार ने उसका ही वारण किया है। शरीर के रक्षणादि का निषेध नहीं किया। इन साधनों में सर्वथा त्यागी महात्मा का ही अधिकार है। बहुत आरम्भ व्यावहार करने वाले का नहीं।

इस प्रकार विचार के बल से मुमुक्षु शरीर के भरण पोषण को भगवान् तथा प्रारब्ध के अर्पण करके निश्चिन्त होकर भगवदनुसंधान ब्रह्मात्मैकत्व चिन्तन में अग्रसर होकर समय व्यतीत करे। "गच्छतु" शब्द से ईश्वर से प्रार्थना का अर्थ भी प्रतीत होता है ॥१॥

प्रथम श्लोक में साधक की दिनचर्या को कथन करके अब आचार्य सद्वासनाओं के द्वारा दुर्वासनाओं की निवृत्ति रूपक अलङ्कार से कहते हैं:--

अज्ञानं त्यज हे मनो मम सदा ब्रह्मात्मसद्भावनात्।
सङ्कल्पानखिलानपि त्यज जगन्मिथ्यात्वसंभावनात्॥
कामंसाधनसाधनश्रम परिध्यानादजस्रं त्यज।
क्रोधन्तु क्षमया सदा जहि बलाल्लोभं तु सन्तोषतः।२।

विवेक बुद्धि पूर्वक मोक्ष कामनावाला साधक अपने मन को शिक्षा देता है। भाव यह है कि मन में दुर्वासनाऐं भरी हुई हैं। जिनके अधीन हुआ मन अनिष्ट चिन्तन करता है। इसको विवेक वाली बुद्धि समझाती है। लोक में देखा भी गया है कि यदि मन प्रबल हो जावे तो पुरुष दोषों और दुर्गुणों की तरफ झुक जाता है। और यदि बुद्धि प्रबल हो जावे तो मन दुर्गुणों

का त्याग कर सद्गुणों वाला बन जाता है। यह देवासुर संग्राम प्रत्येक अन्तःकरण में सर्वदा हो रहा है कि दुष्ट वृत्तियां श्रेष्ठ वृत्तियों को दबाती हैं और श्रेष्ठ वृत्तियां दुष्ट वृत्तियों को दबाती हैं इसलिये विवेक बुद्धि सहित जिज्ञासु अपने मन को समझाता है। कि हे मनः ! सबसे प्रथम अज्ञान का त्याग कर क्यूँकि अज्ञान ही सब अनर्थों का मूल है। अज्ञान का अर्थ मूल अविद्या और कार्य अविद्या इन दोनों का त्याग कर। वास्तव में मूल अविद्या तो ब्रह्म.त्मैकत्व के साक्षात बोध से निवृत्त होगी। फिर भी अज्ञान की जो गाढ़ अवस्था है उसको साधनों से त्याग कर। जैसे अरुणोदय अन्धकार की गाढ़ता को पहिले ही हटा देता है। सूर्य भगवान तो छाया मात्र को निवारण करता है। इसी प्रकार आसुरी सम्पदा जो अज्ञान की गाढ़ अवस्था है उसको दैवी सम्पदा के साधनों से दूर कर। ज्ञान तो छाया रूप जो आवरण है उसको निवारण करेगा। इस वास्ते प्रथम अज्ञान की गाढ़ अवस्था यदि निवृत्त होगी तभी साधनों में भी प्रवृत्ति होगी। आसुरी सम्पत्ति के दूर होने से ही दैवी सम्पदा बढ़ती है। और दैवी सम्पदा के बढ़ने से आसुरी भाव नष्ट होते हैं इनका परस्पर सम्बन्ध है। इस अज्ञान के निवारण का क्या साधन है ? उत्तर देते है कि ब्रह्म ही आत्मा है। इस प्रकार की श्रेष्ठ और उत्कृष्ट भावनायुक्त दीर्घकाल निरन्तर और सत्कार पूर्वक सेवन किये हुये ज्ञान के अभ्यास से हे मनः अज्ञान को दूर कर।। इस मूलाज्ञान की निवृत्ति के उपाय के साथ साथ इस अज्ञान का कार्य जो संकल्प—पदार्थों में शोभनाध्यास कि यह अच्छे हैं— इस संकल्प को भी त्याग कर।

किस साधन से ? जगत के मिथ्यात्व की सम्यक् भावना से। कि यह जगत मृगतृष्णा के जल और आकाश में नीलता के समान मिथ्या है। इस प्रकार की दृढ़ भावना से संकल्पों का त्याग कर ॥ इस संकल्प रूप शोभनाध्यास का कार्य जो काम है। जो विषयों की इच्छा मात्र है हे मनः उसका भी त्याग कर। किस साधन से ? इस विचार से कि इच्छा के विषय जो स्त्री, पुत्र, धन, गृहादि हैं उनकी प्राप्ति और रक्षादि के प्रयत्न करने में जो परिश्रम होता है और विक्षेप, चिन्ता, छल, कपट, चोरी आदि से अनेक दुःख उठाने पड़ते है और पाप करने पड़ते हैं उनका ध्यान रूप चिन्तन करके इन विषयों की इच्छा का त्याग कर ॥ इस काम का भी कार्य जो क्रोध है, हे मनः उसका भी त्याग कर। क्रोध का स्वरूप अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति के प्रतिबन्ध करने वाले पर अन्तः करण की वृत्ति का अभिज्वलन रूप क्षोभ है। जिस के चिन्ह नेत्रों का लाल होना, होंटों का फरकना, शरीर में कम्प, वाणी से गाली और दुर्वचन, हाथों से मारपीट, मन से बुरा चिन्तन आदि हैं। ऐसे कष्ट दायक क्रोध का भी त्याग कर। किस साधन से ? क्षमा के स्वभाव से। अर्थात सहन शीलता से। किसी व्यक्ति के अपराध करने पर और इच्छित पदार्थ के प्रोक्ष या अप्रोक्ष विघात करने पर भी मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार का बुरा चिन्तन, दुर्वचन और आघातादि न करना। इस उपाय से हे मनः ! क्रोध का त्याग कर॥ "क्रोधं तु" इसमें "तु" शब्द काम से क्रोध की विलक्षणता कथन करे है। अर्थात क्रोध के निवारण में क्षमा रूप साधन को दृढ़ प्रयत्न से सम्पादन करके साधक क्रोध का निवारण करे। अथवा जिस

वस्तु के लिये क्रोध हो रहा है उसकी इच्छा के त्याग कर देने से भी क्रोध नष्ट हो जाता है ॥ इसी तरह हे मनः लोभ का भी त्याग कर। लोभ का स्वरूप यह है कि प्राप्त पदार्थ के त्याग को सहन न कर सकना। अथवा जो पदार्थ प्राप्त हैं उनसे चित्त की पूर्ति का न होना, अधिक इच्छा का बढ़ना "और होवें और होवें"। इस प्रकार लोभ की वृत्ति का भी हे मनः त्याग कर। लोभ के त्याग का क्या उपाय है? सन्तोष से अर्थात अप्राप्त की वाञ्छा न करके विना पर्यत्न से जो प्राप्त हुआ है उसको यथा शास्त्र वर्ताव में लाना और सौम्य तथा सदाचार से सम्पन्न होकर उसका सेवन करना और प्राणयात्रा मात्र से अधिक ग्रहण न करना इन साधनों से हे मनः लोभ का त्याग कर। "लोभं तु" यहां 'तु' शब्द पूर्व कथन किये हुये क्रोध से विलक्षणता कथन करे है अर्थात दृढ़ सन्तोष से ही लोभ निवृत्त होवे है। क्षमादि से नहीं ॥२॥

अब तीसरे श्लोक से और और जो दुर्वासनायें हैं उनके उल्लेख पूर्वक सद्वासनाओं से उन का प्रतीकार कहते हैः—

जिह्वोपस्थसुखभ्रमं त्यज मनः पर्यन्तदुःखेक्षणात्।
पारुष्यं मृदुभाषणात्त्यज वृथाऽऽलापश्रमं मौनतः ॥
दुस्सङ्गं त्यज साधुसङ्गमबलाद् गर्वं तु भङ्गेक्षणात्।
निन्दादुःखमनिन्द्यदेवमुनिभिर्निन्दाकथासंस्कृतेः* ॥३॥

हे मनः। जिह्वा और उपस्थ इन दोनों इन्द्रियों करके

---

* 'संस्मृतेः' पाठ भी हो सकता है।

ब्रह्मा से लेकर मच्छर पर्यन्त सारा जगत ही हत हो रहा है। इस लिये जिह्वा और उपस्थ इन्द्रिय के सुख भ्रम को भी त्याग दे। अर्थात खान पान से रसना इन्द्रिय द्वारा और विषय भोग से उपस्थ इन्द्रिय द्वारा सुख का भ्रम है सुख है नहीं इसका त्याग कर। किस साधन से ? पर्यन्त दुःखेक्षणात् परि कहिये सर्व ओर से दुख के देखने से तथा अन्त कहिये क्षण मात्र के पीछे नष्ट हो जाता है ऐसा देखने से रसना इन्द्रिय और उपस्थ इन्द्रिय के सुख भ्रम का त्याग कर। अथवा "परि" शब्द वर्जन में है। अर्थात् अन्त का निषेद्ध करे है। भाव यह कि अनन्त दुःख के देखने से कि इनमें अनन्त दुःख हैं। जितने अध्यात्मादि दुख हैं सो सब इन्हीं से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार देखने से इसका त्याग कर। भ्रम शब्द जो सुख के साथ लगाया गया है वह भी हेतु है। अर्थात् इस सुख को भ्रम रूप होने से इसे भी त्याग कर। क्योंकि यह सुख नहीं है। क्षणमात्र सुखाभास है। यदि सुख होता तो निवृत्त क्यों होता और जिस सुख में रागद्वेष काम क्रोधादि दोष और दुख पूर्ण हैं वह सुख कैसे हो सक्ता है इसलिए सुख का भ्रम है। सुख वह है जिससे इन्द्रियों और मन को शान्ति होवे। जिसमें कोई दोष न हो कोई दुख न हो वह स्वरूपसुख है। यह विषयसुख तो दुख रूप ही है। सुख की भ्रान्ति है। इस वास्ते हे मनः इसका त्याग कर॥ पारुष्यं अर्थात् कटुवचन बोलने। इसका भी त्याग कर। किस साधन से ? मृदु कोमल और मधुर भाषण से। जिस वचन से उद्वेग किसी को न हो

सच्चा और प्रिय हो और परिणाम में हित रूप होवे । ऐसे वचन से वाणी की कटुता का हे मनः त्याग कर ॥ वृथालाप अर्थात् व्यर्थ ही असम्बद्ध बहुत प्रलाप करना हे मनः इस श्रम को त्याग दे । किस साधन से ? मौनतः —वाणी के मौन से । भाव यह कि व्यर्थ बकवास से वाणी को श्रम होवे है । इस श्रम के त्याग के लिए मौन ही उत्तम साधन है । इस मौन रूपी उत्तम साधन को अवलम्बन करके हे मनः ! वृथा आलाप के श्रम को त्याग कर ॥ हे मनः ! दुस्संगं—दुष्ट पुरुषों का संग अर्थात् विषय और विषयियों का संग त्याग कर । सङ्ग का अर्थ सम्बन्ध अथवा आसक्ति इसका त्याग कर । किस साधन से ? साधु संगम बलात्—अर्थात् साधु जो श्रेष्ट सत्पुरुष हैं उनके संग से अर्थात् सम्बन्ध तथा आसक्ति के बल से । साधु पुरुष के लक्षण यह हैं कि तितिक्षु, करुणाशील, प्राणिमात्र का सुहृद हो; अजात शत्रु जिसका कोई शत्रु न हो, शान्त हो । ऐसे साधु ही साधुओं के भूषण हैं । इनके संग के बल से कि मैं अवश्य ही दुस्संग का त्याग करूंगा इस उत्साह और दृढ़ आसक्ति के बल से हे मनः ! दुस्संग का त्याग कर ॥ हे मनः ! विद्या और धन आदिकों से होने वाला जो अभिमान रूप घमण्ड—गर्व है । इसका भी त्याग कर । किस साधन से ? गर्व के नाश देखने से । अर्थात् अधिक विद्वान् तथा अधिक धन वाले से गर्व का नाश होता है । जैसे अजात शत्रु राजा ने बालाकी ब्राह्मण का गर्व भंग किया था । इस तरह जो भी गर्व करेगा उससे अधिक विद्वान् तथा धनवाला उस गर्व का नाश कर देगा । इस

प्रकार इसके पुनः २ देखने से गर्व का त्याग कर। अर्थात् गर्व के निवारणका उपाय गर्व भंग का विचार है। यहाँ "तु" शब्द गर्वाकी दुरसंग से विलक्षणता को प्रकट करे है॥ हे मनः! निन्दा के दुःख का भी त्याग कर। निन्दा का स्वरूप यह है कि अपने में दोप हो अथवा न हो तो भी दूसरे पुरुष के पास जो प्रोक्ष में दोप का कोई कथन करे उसके श्रवण से दुख होता है। इसका भी त्याग कर। किस साधन से? इस विचार से कि निन्दा के अयोग्य तथा सर्वथा पूज्य देवता और मुनि आदिकों की निन्दा कथा के संस्कारों से। अर्थात् अवतार आदिकों की भी निन्दा पुरुषों ने की है तो हम किस गिनती में हैं। इस प्रकार के संस्कारों से निन्दा के दुःख का त्याग कर। "मुनिभिः" यहाँ तृतीया विभक्ति षष्टि के अर्थ में है॥ ("संस्मृते" पाठ होने से यह अर्थ होगा कि अवतार आदिकों को निन्दा की कथा की स्मृति से अपनी निन्दा के दुख का त्याग कर।)

निद्रां सात्विकवस्तुसेवनतया स्वप्नं सदा जागरात्
रोगाञ्जीर्णमिताशनाज्जहि सदा दैन्यं महाधैर्यतः।
अर्थानर्थपरिग्रहं त्यज वृथासंसर्गसंत्यागतः
स्त्रीवाञ्छां त्यज दोषदर्शन बलाद्दुःखं सुखात्मेक्षणात्॥४

हे मनः! निद्रा का त्याग कर। सर्व वृत्तियों के अभाव की कारण, सत्त्व आह्लादक, और तम को विषय करने वाली गुण की जो वृत्ति वह निद्रा है इसका त्याग कर। भाव यह कि आवश्यक निद्रा जो शरीर की रक्षा और श्रम दूर करने के लिए अपेक्षित है।

तिससे अधिक निद्रा का त्याग कर। किस साधन से ? सात्विक वस्तुओं के सेवन से, सात्विक अन्न के सेवन से, इसके अतिरिक्त शास्त्र, जल, पुरुष, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार यह दश वस्तु भी सात्विक, राजस और तमस होती हैं। इनमें से राजस और तामस को निवारण करके सात्विकों का सेवन करके निद्रा का त्याग कर ॥ हे मनः ! स्वप्न का भी त्याग कर। किस साधन से ? सदा जागरण से। भाव यह कि निद्रा दो प्रकार की है। एक स्वप्न दूसरी सुषुप्ति। इनमें से जब अन्न के रस से नाड़ी पूर्ण रहती है तो गाढ़ निद्रा से सुषुप्ति होती है और जब अन्नरस का पाक हो जाता है तब नाड़ी में अवकाश होने से पूर्व के संस्कारों से मन फुरता है उसको स्वप्न कहते हैं। इस स्वप्न का हे मनः ! त्याग कर। अर्थात् जब गाढ़ निद्रा आवे तब सोना और जब निद्रा टूटे तो जाग्रत होकर सावधान हो जाना। इस तरह से स्वप्न का त्याग कर ॥ अथवा तत्त्वाग्रहण रूप निद्रा है और अन्यथा ग्रहण स्वप्न है इन दोनों का त्याग कर। किस साधन से ? कि सत्त्वगुण का कार्य ज्ञान जो सात्विक ज्ञान है तिसका विषय वस्तु जो आत्मा से अभिन्न ब्रह्म उसके चिन्तनरूप निरन्तर सेवन से तत्त्वाग्रहण रूप निद्रा का त्याग कर ॥ और इस ज्ञान रूप जाग्रत में सर्वदा तत्पर रहने से अन्यथा ग्रहण रूप स्वप्न का त्याग कर ॥ हे मनः ! रोगों का भी त्याग कर। रोग दो प्रकार से उत्पन्न होता है। एक प्रामादिक दूसरा कर्मज। प्रामादिक रोग वह है जो खान पान आदि के प्रमाद या मध्यम प्रारब्ध कर्म द्वारा उत्पन्न हो और जो रोग खान पान आदि के प्रमाद न होने पर भी अवश्य

आ जावे और प्रतीकार के करने पर भी दूर न हो वह कर्मज तीव्र प्रारब्ध जन्य है। उसका क्षय तो भोग से ही है और कोई प्रतीकार नहीं। परन्तु प्रामादिक रोग का प्रतीकार यह है कि जीर्ण मित अशन से अर्थात् जो परिमित अन्न खाने पर परिपक्व हो कर जीर्ण हो अर्थात् जो न थोड़ा खाया जावे न बहुत। थोड़ा खाया हुआ शरीर की रक्षा नहीं करता निर्बल कर देता है और बहुत खाया हुआ रोग उत्पन्न करता है इस वास्ते हे मनः ! हित, मित और पवित्र अन्न जो जीर्ण हो जावे। जैसा कि श्रीमद्भगवत्गीता के सप्तदशअध्याय के आठवें श्लोक में श्री भगवान ने सात्विक अन्न कहा है कि आयु, सत्वगुण, बल, आरोग्यता, सुख और प्रसन्नता का वर्धक हो। रस युक्त, स्निग्ध और स्थिर होवे। ऐसे अन्न के सेवन से रोगों का त्याग कर तथा छटे अध्याय में कथन किया है "युक्ताहार विहारस्य" इस श्लोक के अनुसार अन्न के सेवन से रोग रूप दुखों को निवृत्त कर॥ हे मनः। दीनता का त्याग कर। दीनता का अर्थ यह है कि विषयों के समीप आते ही मन का उन के वशीभूत होजाना। इस दुर्वासना को धैर्य से त्याग कर। धैर्य का अर्थ यह है कि विषयों की तरफ गिरते हुये मन को दृढ़ता से रोकना। जैसे गिरते हुये मकान को स्थम्भ से रोक लिया जाता है इसी तरह विषयों में परवश होते हुये मन को अधिक और प्रबल धैर्य वाली वृति से विषयों से रोकना। इस साधन से हे मनः ! दीनता का त्याग कर अथवा किसी पदार्थ की इच्छा से जो धनी पुरुष या राजा लोगों के पराधीन होकर याञ्चना करना रूप जो दीनता है उस को

धीरज के बल से रोक दे ।। हे मनः ! अर्थ जो धनादिक हैं । यह अनर्थ रूप हैं इनके संग्रह का त्याग कर । क्योंकि इनका संग्रह व्यर्थ है । जैसे सैकड़ों गौ और भैंसों के होते हुये भी पुरुष के अपने प्रयोजन में केवल सेर भर दूध ही आता है शेष दूसरों के लिए है और धान गेहूँ आदि अनाज के सैकड़ों मनों के भी पास हों तो भी पुरुष को अपने लिए आधा सेर ही पर्याप्त है। जैसे सैकड़ों मकानों के होते हुए भी पुरुष के अपने लिए आधी खाट की जगह काफी है बाकी व्यर्थ है । इसी तरह पदार्थों का संग्रह व्यर्थ है। सोना, चाँदी आदि धन तो खाने के काम भी नहीं आता । इस वास्ते भी सर्वथा व्यर्थ है प्रत्युत अनर्थ रूप है । धन के सम्पादन करने तथा रक्षा आदि करने में पन्द्रह अनर्थ सर्वदा रहते हैं । चोरी, हिंसा, झूठ, कपट, काम, क्रोध, अभिमान, मद, फूट, वैर, अविश्वास, संस्पर्धा, परस्त्रीव्यसन, द्यूत व्यसन और मदिरापान व्यसन । इस प्रकार अर्थों के संग्रह को अनर्थ रूप और व्यर्थ समझ कर इनके सम्बन्ध और इनके संग्रह करने वाले धनी पुरुषों के सम्बन्ध को सर्वथा त्याग कर । स्मृति में भी कहा है कि धन, वस्त्र, स्त्री, भोज्य आदि पदार्थों की समीपता से सत्पुरुषों का चित्त भी चलायमान हो जाता है। इस वास्ते इनकी समीपता को भी दोष रूप जान कर धन आदि का दूर से त्याग कर ।। हे मनः ! स्त्री की वाञ्छा को भी त्याग दे । किस साधन से ? दोष दर्शन के बल से । अर्थात् स्त्री के शरीर में अस्थि, रुधिर, मांस, मज्जा पुरीष मूत्रादिक मलिन वस्तुएं जो घृणा की अस्पद हैं इनका ही बना हुआ है तथा जन्म और नाशशील है इन दोषों के

देखने के बल से स्त्री की वाञ्छा का हे मनः त्याग कर ॥४॥

दारासक्तिमनादरात्सुतधनासक्तिं त्वनित्यत्वतः
स्नेहं मोहविसर्जनात्करुणया नैष्ठुर्यमन्तस्त्यज ।
औदासीन्यसमाश्रयात्त्यज सुहृन्मित्रारिदुर्वासनाम्
सर्वानर्थकरान्दशेन्द्रियरिपूनेकान्तवासाज्जहि ॥५॥

हे मनः ! दार अर्थात् स्त्री की आसक्ति कहिए प्रीति को त्याग कर। किस साधन से? अनादर से अर्थात् स्त्री में आदर और सत्कार के त्याग से। भाव यह कि बाहिर से स्वांगानुसार व्यवहार करते हुए भी मन से दोष दर्शन द्वारा घृणा का ही भाव करना। तथा पुत्र धन आदिक में आसक्ति को भी त्याग कर। यहाँ "तु" शब्द "च" अर्थ में है। भाव यह कि दारा में अनित्यता का समुच्चय करने के लिए है और पुत्र धन आदि में भी आदर का परित्याग करने से तथा अनित्यता के निश्चय करने से आसक्ति का परित्याग कर। अनित्यता कहिए नित्य नहीं रहेंगे। विनाशी हैं और मृत्यु के अधीन हैं इसलिए इनकी प्रीती का त्याग कर॥ हे मनः ! अपने कुटुम्ब में जो स्नेह है उसको त्याग दे। किस हेतु से? मोह के विसर्जन से। मोह नाम अविवेक का है। इस अविवेक से कुटुम्ब में, स्त्री में और अपने शरीर में जो स्नेह है विवेक विचार द्वारा त्याग कर॥ हे मनः ! निष्ठुरता अर्थात् कठोरता को अन्तःकरण से त्याग कर। कठोरता का अर्थ यह है कि दूसरों को दुःख देते हुए या उनको दुखी देखते हुए भी चित्त का पाषाण के सदृश कठोर बना रहना—द्रवीभूत न होना।

इस दोष को अन्तःकरण से करुणा रूप दया द्वारा त्याग दे। अर्थात सर्व जीवों के दुःखों को देख कर चित्त ऐसा द्रवीभूत होवे जैसा अपने दुःख में और स्त्री पुत्र आदि के दुःख में द्रवीभूत होता है ऐसी करुणा से निष्ठुरता का त्याग कर। शास्त्र में भी लिखा है कि जिस पुरुष का चित्त सर्व जीवों पर करुणा करके द्रवीभूत रहता है उसको और साधन जटाभस्म आदि से क्या प्रयोजन है। वह धन्य है और वही पुण्यवान है ॥ हे मनः! "यह सुहृद् है" "यह मित्र है। "यह शत्रु है"।" इस विषम बुद्धि रूप दुर्वासना का त्याग कर। अर्थात् प्रत्युपकार रहित उपकार करने वाले सुहृद, उपकार की अपेक्षा उपकार करने वाले मित्र और अपकार करने वाले शत्रु में जो विषमता की बुद्धि है वह त्याग कर। किस साधन से? उदासीनता के सम्यक् आश्रयण करने से। अर्थात् मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष दोनों में समभाव से रहो। मित्र में राग न कर और शत्रु में द्वेष न कर। इस तरह सम बुद्धि से विषमता का त्याग कर। भाव यह है कि सब में ब्रह्म दृष्टि से विषमता दूर हो जावेगी॥ हे मनः! पंच ज्ञानेन्द्रियां और पंच कर्मेन्द्रियां यह दशों इन्द्रियां सर्व अनर्थ के करने वाली हैं अर्थात् लोक परलोक से भ्रष्ट करने वाली साधक की परम शत्रु हैं। ऐकान्त निवास से इनका त्याग कर। अर्थात् शुद्ध और ऐकान्त देश में निवास करने से अभ्यास में बाधा डालने वाले आकर्षक विषयों के समीप न होने से इन्द्रियों में लोलपपना नहीं रहेगा। यही इनका त्याग है। जैसे एक धनी पुरुष के जंगल में जाते हुये को ग्यारह डाकू सामने आ जावें तब वह धनी

पुरुष उनमें फूट डाल कर दशों को अलग कर देवे। फिर एक के साथ झगड़ा करके उसको दबा सक्ता है। ग्यारह व्यक्तियों के साथ लड़ाई करने से स्वयं अकेला होने के कारण मारा जाना अवश्य है। इस तरह यह दश इन्द्रियां और ऐक मन साधक के आत्मधन को चुराने वाले हैं इन इन्द्रियों के विषयों से अपने को अलग करने से और नित्य ही ऐकान्त सेवन करने से दश विषयों के अभाव से इन्द्रियां निर्बल हो जायेंगी। बाकी रहा मन उसको साधक विवेक विचार वाली बुद्धि से दबाकर जीत लेगा। इस प्रकार एकान्त वास से दश इन्द्रियों का त्याग कर। विषयों के त्याग से ही इन्द्रियों का त्याग है ॥५॥

आलस्यं त्वरया श्रमं शमधिया तन्द्रिं समुत्थानतो-
भेदभ्रांतिमभेददर्शनबलान्मिथ्यात्वतः सत्यताम्।
मर्मोक्तिं निजमर्मकर्मकथया क्रोधं स्वसाम्येक्षणात्
आक्रोशं कुशलोक्तितस्त्यज मनश्छिंध्यप्रमादाद् भयम्॥६॥

हे मनः आलस्य का त्याग कर। आलस्य का अर्थ यह है कि चित्त का अथवा शरीर का भारीपन होने से अवश्य कर्तव्य में भी अप्रवृत्ति। चित्त का भारीपन तमोगुण से और शरीर का भारीपन कफ आदिकों से होता है। अथवा स्वल्प समय में करने योग्य कार्य को बहुत समय लगा देना, यह भी आलस्य है इस का त्याग कर। किस साधन से? त्वरया अर्थात शीघ्रता करके। भाव यह कि मन में ऐसा दृढ़ निश्चय करना कि झटिति से अवश्य कर्तव्य कार्य को करना है विलम्ब नहीं लगाना। ऐसा

निश्चय करके कार्य में तत्पर हो जाना। इस प्रकार की अन्तः-करण की वृत्ति को हे मनः सम्पादन कर। इस का भाव यह है कि ज्ञान के साधनों में अथवा उपासना या पुण्य कर्म के करने में विलम्ब न कर। विलम्ब करने पर विघ्न पड़ जाने से साधन छूट जायगा। इस वास्ते सावधान होकर शीघ्रता को सम्पादन कर। साथ यह भी है कि दूसरे की हानि करने में अथवा पाप करने में तथा शास्त्र निषिद्ध कार्य करने में आलस्य करना श्रेष्ठ है अर्थात् चिरकारीपना ही इन पाप कर्मों में श्रेष्ठ है। क्योंकि विघ्न के होने से पाप से निवृत्त भी हो सकता है। शुभ कार्य में तो हे मनः शीघ्रता ही कर और आलस्य का त्याग कर॥ हे मनः? श्रम को त्याग कर। भाव यह कि लौकिक और वैदिक व्यवहारों से शरीर, इन्द्रिय और मन में परिश्रम—थकावट होवे है अर्थात विक्षेप प्राप्त होता है। इस को शम बुद्धि से अर्थात लौकिक वैदिक व्यवहारों के त्याग पूर्वक मनोनिरोध रूप शम वृत्ति से त्याग कर। जैसा कि श्री भगवान ने गीता में कहा हैं— कि योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले साधक को कर्म कारण कहा गया है और योगारूढ़ के लिये उसी योग में स्थिति के लिये शम ही कारण है। इस तरह शम—मन की शान्ति से परिश्रम का हे मनः त्याग कर॥ हे मनः! तन्द्रा का त्याग कर। तन्द्रा उस अवस्था को कहते हैं जब मन निद्रा में भी न हो और जाग्रत में भी सावधान न हो। अर्थात जैसे पुस्तक के श्रवण करने पर भी शब्दार्थ को मन स्वस्थ होकर ग्रहण नहीं करता है। शिर नीचे ऊपर गिरता रहता है। अर्थात अर्ध निद्रा सी अवस्था

का नाम तन्द्रा है। हे मनः ! इसका त्याग कर। किस हेतु से ? समुत्थानता से अर्थात उठ खड़े होने से या सावधान होकर बैठने से। अथवा थोड़ा थोड़ा चल पड़ने से और जल से नेत्र मुख को प्रक्षालन करने से। इस तरह सावधान हो कर हे मनः तन्द्रा का त्याग कर॥ भेद भ्रान्ति अर्थात भेद भ्रम को त्याग कर। सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद के भ्रम का त्याग कर। जैसे एक ब्राह्मण का दूसरे ब्राह्मण से सजातीय भेद है। क्षत्री आदि के साथ विजातीय भेद है। और अपने हस्तपादादि के साथ स्वगत भेद है। इस तरह आत्मा का सजातीय भेद कि आत्मा नाना है इस सजातीय भेद भ्रम को त्याग कर और आत्मा से विजातीय आकाशादि जड़ प्रपञ्च सत्य है। इस विजातीय भेद को भी त्याग कर। और आत्मा के अवयवों के अभाव से स्वगत भेद भी नहीं है। "एकमेवाद्वितीयम्" अर्थात आत्मा निश्चय ही एक अखण्डानन्द अद्वतीय रूप है उस में भेद नहीं इस अभेद दर्शन के बल से भेद भ्रान्ति को हे मनः त्याग दे। अथवा भेद पांच प्रकार का होता है (१) जीव ईश्वर का भेद (२) जीवों का परस्पर भेद (३) जीव जड़ का भेद (४) जड़ों का परस्पर भेद (५) ईश्वर जड़ का भेद। इस भेद भ्रान्ति को त्याग दे। किस साधन से ? अभेद दर्शन से। जैसे एक बड़े मकान में एक पुरुष स्थित है और चारों तरफ दीवारों में दर्पण लगे हुये हैं, उन सब दर्पणों में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है अब पुरुष से प्रतिबिंबों का भेद मिथ्या है। और परस्पर प्रतिबिंबों का भेद भी मिथ्या है। भेद है नहीं। एक अद्वितीय पुरुष ही है भिन्न और कुछ है

ही नहीं। सर्वथा अभेद है। इस तरह अभेद दर्शन के बल से पांचों प्रकार के भेदभ्रम को त्याग कर। अर्थात सर्वत्र सर्व में सत्ता स्फूर्ति अद्वय आनन्द रूप अधिष्ठान ब्रह्म ही है और सब इसमें कल्पित है। इस विचार से भेद भ्रान्ति का त्याग कर। भ्रम-- भ्रान्ति भी पांच प्रकार की है।

दोहा—भेद भरम कर्तृत्व भरम पुनः संग भ्रम विकार।
ब्रह्म इतर जग सत भरम पांच भरम निर्धार॥

(१) भेद भ्रम (२) कर्तृत्व भ्रम (३) संग भ्रम (४) विकार भ्रम (५) ब्रह्म से भिन्न जगत सत्यभ्रम। भेद भ्रम तो ऊपर कथन कर दिया गया है। बाकी कर्तृत्व भ्रम, कि मैं कर्मों का करता हूं और संगभ्रम कि आत्मा और अनात्मा देह आदि के सम्बन्ध का भ्रम, और विकार भ्रम अर्थात कार्य कारण का भ्रम कि जगत कार्य है और ब्रह्म कारण है और ब्रह्म से भिन्न जगत सत्यत्व भ्रम यह पांच भ्रम हैं, इन को निवारण कर। किस हेतु से ?

दोहा—बिंब प्रतिबिंब लोहित स्फटिक घटाकाश गुणमार।
कनक कुण्डल दृष्टान्त दे पाञ्चों भरम निवार॥

भेद भ्रान्ति के निवारण करने का उपाय ऊपर कथन किये हुये बिंब प्रतिबिंब के दृष्टान्त द्वारा कथन कर दिया गया है। दूसरे कर्तृत्व भ्रम के दूर करने के लिये लोहित स्फटिक का दृष्टान्त है। वास्तव में देहादि अहंकार पर्यन्त ही कर्म करते हैं आत्मा में कर्तापने का भ्रम है। जैसे लाली लाल फूल में है उसकी सन्निधि से स्फटिक में प्रतीत होती है। स्फटिक में लाली का भ्रम है। वस्तुत है नहीं। तैसे आत्मा में कर्तृत्व

का भ्रम है कर्तृत्व है नहीं। तीसरा संग भ्रम अर्थात आत्मा अनात्मा में कल्पित तादात्म्य संबन्ध जो माना जाता है सो भ्रम है। उसको घटाकाश के दृष्टान्त से वारण करते हैं जैसे घट और अकाश का सम्बन्ध भ्रम रूप है। सम्बन्ध है ही नहीं। अर्थात आकाश को निरवयव होने से घट और आकाश का सञोग सम्बन्ध नहीं बन सक्ता और न ही तादात्म्य और समवाय ही बन सक्ते हैं। घट सावयव है। आकाश निरवयव है। घट परिच्छिन्न है आकाश व्यापक है। इस तरह कोई सम्बन्ध नहीं बनता सम्बन्ध का भ्रम है॥ चौथा कार्य कारण का भी भ्रम है। वास्तव में कार्य कारणपना भी नहीं है॥ जैसे रज्जु और सर्प का कार्य कारण भाव नहीं है। सर्प कल्पित है रज्जु अधिष्ठान है। रज्जु से सर्प कोई उत्पन्न नहीं हुआ। भ्रम से प्रतीत होता है तैसे ही जगत आत्मा से उत्पन्न नहीं हुआ। भ्रम से प्रतीत होता है॥ पांचवां भ्रम ग्रन्थकार स्वयं कह रहे हैं। कि हे मनः! जगत की सत्यता के भ्रम को त्याग कर। किस साधन से? मिथ्यापने के बोध से। कि यह प्रपञ्च मिथ्या है जैसे स्वर्ण में कुण्डल आदि भूषण वस्तुतः हैं नहीं भ्रान्ति से माने जाते हैं। कुण्डल आदि का गुरुत्व, रूप, स्पर्श आदि कुछ भी नहीं है। किन्तु केवल स्वर्णमात्र ही है। इसी तरह केवल आत्ममात्र ही है जगत कुछ है नहीं वाणी का विलास है। इस प्रकार जगत की सत्यता के भ्रम को हे मनः! त्याग कर॥ हे मनः! मर्मोक्ति का त्याग कर। मर्म शब्द का अर्थ यह है कि जैसे अस्थियों के सन्धि स्थान हैं वहां चोट लगने पर बहुत व्यथा होती

है वैसे ही छुपे हुये दोष थोड़े अथवा बहुत अथवा न होने पर भी जो सन्मुख में कोई वह दोष कथन करे। उन के श्रवण से अन्तःकरण में बहुत व्यथा होती है। जैसे कहा भी है कि वाकबाण मुख से निकलता है उस करके ताड़ित हुआ व्यक्ति रात दिन शोक चिन्ता में ग्रस्त रहता है। मानों यह मर्म स्थान में चोट लगती है। इस वास्ते विचारवान पुरुष मर्मोक्ति का त्याग करे। किस साधन से ? कि यह विचारवान पुरुष अपने मर्म और कर्म की कथा से अर्थात जो दूसरे को मर्म बचन कहते हैं अपने मर्म और गुह्य कर्म विचार करके दूसरों के आगे कथन करे। इससे दूसरों की मर्म उक्ति का व्यसन छूट जायेगा। भाव यह है कि अपने छुपे हुये शुभ गुण और शुभ कर्म कथन न करे प्रत्युत छुपे हुये अपने दोष और अशुभ कर्मों का कथन करे। कथन करने से वह निकल जावेंगे। अपने और पराये गुण दोषों का यह स्वभाव है कि जो कोई अपने गुण या दोष देखेगा तो वह निकल जायेंगे और दूसरों के गुण या दोष देखेगा तो वह अपने में आवेंगे। हर एक व्यक्ति के कन्धे पर अपने गुणों का थैला आगे है और दोषों का थैला पीठ पर है। इस लिये अपने गुण हर ऐक व्यक्ति अपने सन्मुख देखता है। दोष पीछे होने से नहीं दीखते हैं। और दूसरे के दोष उसकी पीठ पर होने से पीछे रहने वाले व्यक्ति को स्पष्ट दीखते हैं। उसको गुण नहीं दीखते। इस वास्ते हे मनः अपने ही दोषों को देख। दूसरों के दोषों को मत देख। अपने गुणों को न देख दूसरे के गुणों को देख। इस तरह मर्म उक्ति का त्याग कर॥ हे मनः! क्रोध का त्याग कर। क्रोध का स्वरूप और

उस के निवारण का साधन क्षमा दूसरे श्लोक की व्याख्या में कथन कीया जा चुका है। फिर भी दूसरा साधन कहते हैं। कि स्वसाम्येक्षणात् अर्थात स्व समता के दर्शन से। शत्रु, बन्धु और स्वदेह में एक आत्मा के दर्शन करने हारे विवेकी पुरुष को क्रोध कैसे होगा अर्थात नहीं होगा। जैसे अपने अवयवों में क्रोध नहीं होता। किसी कवि ने जैसे कहा है—

दोहा—मुख धोवत जो अंगुरी लोचन में धस जाये।
तां को काट न डारिये सुनो सज्जन चित्त लाय।

जिहवा टूक दान्त लग जाये। तांको कोऊ भन्न न पाये।
तैसे ज्ञान कहानी भाई। सब में ऐको रह्या समाई।
जे कोई बदला वैर न लेवे। तब ओह ज्ञान पूरा हृद सेवे॥

हे मनः! आक्रोश का त्याग कर। आक्रोश का अर्थ अपराधी को फटकारना है। उसका त्याग कर। किस साधन से? कुशल वचनों के कथन से। अर्थात सुशीलता पूर्वक मधुर हितकारी वचन के कथन से। भाव यह कि ऐसा निश्चय पहले ही मन में होना कि अपराधी को किसी अवस्था में भी हमने नहीं फटकारना और मधुर भाषण ही करना है। ऐसे निश्चय पूर्वक मधुर भाषण से आक्रोशन को त्याग कर। अथवा कुशल शब्द का अर्थ जो सुशीलता पूर्वक मधुर हितकारी वचन कथन करने वाले कुशल पुरुष हैं उनकी उक्ति से अर्थात उनके कथन को स्मरण करके किसी को भी फटकारने का त्याग कर। जैसे भृगु ऋषि के अपराध करने पर भगवान विष्णु के वचनों को

स्मरण करके अथवा कैकेयी के अपराध करने पर भगवान राम के वचनों को स्मरण करके और विश्वामित्र के अपराध करने पर भगवान वसिष्ठ के बचनों को स्मरण करके आक्रोशण का त्याग कर ॥ हे मनः भय को अप्रमाद से छेदन कर। भय का अर्थ जो मोक्ष मार्ग में चलने से एकान्त सेवन करने पर चोर, शत्रु, सर्प, व्याघ्रादि का भय और लौकिक लज्जा आदि का भय इसका त्याग कर। किस साधन से? अप्रमाद से। अर्थात सर्व प्रकार सावधान रहने से ऐकान्त में भय नहीं होता और सावधान रहने से लोक लज्जा का भय भी नहीं रहता। अथवा भय का अर्थ जो मृत्यु और दुखों का भय हे मनः! उसका छेदन कर। किस साधन से ? अप्रमाद से अर्थात ज्ञान के साधनों द्वारा ज्ञान को प्राप्त करके मृत्यु और दुखों के भय को दूर कर। भाव यह कि जैसे सनतसुजात ने धृतराष्ट्र को कहा है कि प्रमाद को ही मैं मृत्यु कहता हूँ और अप्रमाद को अमृत कहता हूँ। अर्थात प्रमाद है ब्रह्मात्म स्वरूप से प्रच्युति रूप अज्ञान उसको मृत्यु कहा जाता है। मरण का हेतु भी यही है और इस अज्ञान से ही द्वैतभाव की भ्रान्ति द्वारा भय होता है। हे मनः! अप्रमाद से इसका छेदन कर अर्थात अमृत रूप जो मोक्ष है उसका हेतु ज्ञान है। ज्ञान से ही अमृत होता और अमृतत्व ही भय से रहित है। जैसे "हे जनक तू अभय को प्राप्त हुआ है"। सर्वथा भय की निवृत्ति मोक्ष में ही होवे है। इसलिए मोक्ष को प्राप्त करके सर्वथा भय का छेदन कर ॥६॥

भूतार्थस्मरणं वृथाश्रमधिया प्राप्तं तु हानेक्षणात्
भव्यार्थव्यसनं सदा त्यज मनः प्रारब्ध चोद्येक्षणात्।

शिष्टाशिष्टजनक्रियां त्यज वृथाकष्टानुसन्धानतः ।
स्नेहाद्द्वेष मतिं सदा त्यज जनं भस्मान्तता संस्कृतेः* ।७।

* यहाँ पर "संस्मृतेः" पाठ भी हो सकता है ।

हे मनः ! भूतार्थ के स्मरण का त्याग कर अर्थात भूत कहिये अतीतकाल और उसमें होने वाले अर्थ—पदार्थ तिनके स्मरण को त्याग कर। किस साधन से ? प्रथम तो उनका स्मरण ही व्यर्थ है। जैसे कहा है कि "प्रीति न साथ व्यतीत भली कछु हाथ मिलि न यथा स्वप्ना" । जैसे स्वप्न के पदार्थ स्मरण करने से कुछ फल नहीं है। व्यर्थ ही उनका स्मरण है। वैसे ही अतीत काल के पदार्थों का स्मरण व्यर्थ है कुछ फल सिद्ध नहीं होता। दूसरा साधन श्रम-बुद्धि करके भूतार्थ के स्मरणं का त्याग कर । अर्थात इन के स्मरण से परिश्रम होता है । भाव यह कि स्मरण दो प्रकार का होता है। एक तीव्रबन्ध का स्मरण है । जैसे स्त्री के स्मरण से काम उदय होता है और शत्रु के स्मरण से क्रोध उदय होता है, धन के स्मरण से लोभ का उदय होता है और पुत्रादि के स्मरण से मोह का उदय होता है । इसी तरह ईर्षा असूया आदिकों के हेतु चिन्तन से ईर्षा असूया आदि उत्पन्न होते हैं। यह महान अनर्थ का हेतु ताप रूप अति परिश्रम रूप है। इस से कुछ सिद्ध नहीं होता । इस लिये हे मनः ! इस परिश्रम को तापरूप निश्चय करके भूतार्थ के स्मरण का त्याग कर। दूसरा मृदुबन्ध का स्मरण है । जैसे घट पट आदि का स्मरण। सो भी अभ्यास के वश से परिश्रम ज्ञात नहीं होता किन्तु परिश्रम का ही हेतु है। शान्त,

शीतल और अनायास सुख से स्थिति का विरोधी है। इसका भी त्याग कर॥ हे मनः! प्राप्त को अर्थात वर्तमान काल और वर्तमान काल में प्राप्त पदार्थों के चिन्तन का भी त्याग कर। ('तु' शब्द भूतार्थ से विलक्षणता का द्योतक है)। किस साधन से? हानेक्षणात् अर्थात वर्तमान काल से उत्तर काल में इन पदार्थों के नाश देखने से। तथा हे मनः! भविष्यत काल और भविष्यत कालिक पदार्थों के चिन्तन के व्यसन को सर्वदा त्याग दे। अर्थात भविष्यत के जो मनोराज्य के पदार्थ वह आकाश के पुष्प सदृश हैं। जैसे कहा भी है--"भावी के भाव अभाव यथा तिन में न रमो नभ के सुमना।" उनका स्मरण कुछ लाभ का हेतु नहीं है। किस साधन से त्याग करें? प्रारब्धचोद्येक्षणात्। कि भविष्यत काल में प्राप्त होने वाले पदार्थ प्रारब्ध की प्रेरणा से प्राप्त होते हैं ऐसा देखने से॥ आचार्य ने भव्यार्थ के साथ व्यसन शब्द इस वास्ते कहा है कि मन को भविष्यत वस्तु के चिन्तन में अत्यन्त आसक्ति होती है। अर्थात भविष्यत नगर में ही मन का निवास रहता है। इसलिये भविष्यत चिन्तन के वारण में बहुत प्रयत्न चाहिये। जैसे द्यूत और सुरापान आदि व्यसन के वारण के लिये अत्यन्त प्रयत्न की अपेक्षा है। इसी प्रकार यहां भी जान लेना। भावार्थ यह है कि व्यतीत सुखादि के साथ पुरुष का वर्तमान काल में कुछ सम्बन्ध नहीं है। तथा भविष्यत काल के सुखादि के साथ भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। वर्तमान तो क्षण मात्र ही में व्यतीत होता जाता है। वर्तमान काल की सिद्धि ही नहीं होती। इस लिये व्यर्थ ही भ्रान्ति से पदार्थों का स्मरण चिन्तन हो रहा है। वर्तमान काल

का कार्य केवल इतना ही है कि भविष्यत को भूत कर देना। जैसे गेहूँ के ऐक ढेर को यदि मापना हो तो दूसरी तरफ उसी ढेर को माप कर रखने के लिये बीच में कोई काष्ठादि की निशानी सीमारूप से रख दी जाती है। वह बीच में सीमारूप कोई तीसरा ढेर नहीं है। केवल विभागमात्र का चिन्ह है। तथा जैसे दो ग्रामों की सीमा कोई तीसरा ग्राम नहीं है। इस तरह भूत और भविष्यत काल से अतिरिक्त कोई तीसरा वर्तमान काल सिद्ध ही नहीं होता। यदि वर्तमान काल को क्षणमात्र मान भी लिया जाये तो आधा क्षण भूत है और आधा भविष्यत है। वर्तमान की सिद्धि ही नहीं होती। और भूत भविष्यत का पहले ही अत्यन्ताभाव है। और इन तीनों कालों तथा तिस तिस काल के पदार्थों का परस्पर किसी का किसी के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं है। मन ने ही भ्रान्ति से मिथ्या रूप सम्बन्ध जोड़ रखा है। इस लिये हे मनः! तीनों कालों तथा तीनों कालों में होने वाले पदार्थों के स्मरण चिन्तन का त्याग कर और आत्म चिन्तन कर ॥ हे मनः! शिष्ट जनों करके करने योग्य लौकिक वैदिक सकाम कर्म और अशिष्ट जनों करके करने योग्य निषिद्ध कर्म इन दोनों को त्याग दे। शिष्ट शब्द का अर्थ साङ्ग उपाङ्ग वेद के ज्ञानवाला, तथा वेद में आस्तिकता और वेदोक्त सकाम कर्म करने वाला है और अशिष्ट का अर्थ वेद में आस्तिकता से रहित और निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्ति वाला पुरुष है। इन दोनों की क्रियायों को त्याग कर। भाव यह है कि मनुष्य चार प्रकार के हैं। (१) पामर, (२) विषयी, (३) जिज्ञासु (४) ज्ञानी। अशिष्ट

तो पामर हैं। और शिष्ट विषयी हैं। इन दोनों की क्रियायों को त्याग दे। जिज्ञासु होकर श्रवणादि करके हे मनः ! ज्ञान को प्राप्त कर। इन क्रियायों में सर्वदा कष्टानुसंधान करने से इनका त्याग कर कष्ट का अर्थ—निषिद्ध कर्म तो साक्षात नरक और पशु आदि योनियों का हेतु कष्ट रूप है ही, सकाम कर्मादि भी जन्म मरण के चक्कर में फेंकने वाले हैं। सो भी कष्ट रूप ही हैं। इस अनुसन्धान से शिष्टाशिष्टजन की क्रिया का त्याग कर॥ हे मनः ! द्वेष वाली मति का भी त्याग कर। द्वेष सदा अपराधी पर होता है और उसकी हानि करने की इच्छा होती है। जिस के प्रति द्वेष की सम्भावना हो उसके प्रति द्वेषवाली मति को त्याग कर। किस हेतु से ? स्नेहात्—प्रीती वाली मति से अर्थात उसका अनिष्ट चिन्तन न करके सर्वदा उसकी भलाई का ही चिन्तन करना। इस तरह द्वेष वाली मति का हे मनः ! त्याग कर॥ हे मनः ! जन समूह में आसक्ति का त्याग कर। जन शब्द का अर्थ जननधर्मा शरीर। (जाति में एक वचन है)। अर्थ यह कि सर्व बहिर्मुख अध्यात्म शास्त्र के संस्कारों से शून्य जनों तथा अपने शरीर में भी आसक्ति का त्याग कर। किस साधन से ? भस्मान्तता संस्कृतेः अर्थात जितने यह शरीर हैं अन्त में दाह करने से भस्मरूप हो जावेंगे। सर्व शरीरों की तीन ही गतियां है॥ (१) यदि किसी प्राणि ने खा लिया तो विष्टा रूप हो जावेगा॥ (२) यदि अग्नि में दाह किया गया तो भस्म रूप हो जावेगा॥ (३) यदि ऐसे ही पड़ा रहा तो कीट समूह हो जावेगा। जब यही शरीरों का अन्त है तब प्रीति किस से और किस लिये करनी। अपने

शरीर की भी यही गति है। इस वास्ते किसी में भी देह बुद्धि से प्रीति न कर। इस प्रकार के संस्कारों को दृढ़ करके हे मनः प्रीति का त्याग कर। "संस्मृतेः" पाठ होने से यह अर्थ होगा कि ऊपर कथन किये गये दोषों की स्मृति द्वारा आसक्ति का त्याग कर॥

अध्यात्मादि भवं सदा त्यज मनस्तापं स्वभावेक्षणात्
वैषम्यं सममावतः परकथाविक्षेपमक्षोभतः।
धिक्काराभिभवं तु दुःखमनिशं तद्योग्यता भावनात्
तज्ज्ञातज्ज्ञशिशून्क्षमस्व कृपया कर्मक्षयात्ताडनम् ॥८॥

हे मनः! अध्यात्मादि दुख में होने वाले ताप को त्याग कर। यहां "अध्यात्मादि" में "आदि" शब्द से अधिदैव और अधिभूत का भी ग्रहण है। अध्यात्म दुख का अर्थ यह है कि आत्मा कहिये अन्तः-करण, को अधि कहिये आश्रय अर्थात् अन्तःकरण को आश्रय करके होने वाला दुख-काम, क्रोध, शोक, चिन्ता आदि अध्यात्म दुख, तथा आत्मा कहिये देह को तिस देह को आश्रयण करके होने हारा दुख-ज्वर, शूल आदि यह भी अध्यात्मदुख है। इन दोनों को आधि और व्याधि भी कहते हैं। आधि मानसिक दुख है और व्याधि शारीरिक दुख है। अधिदैव दुख देवता नवग्रह आदि से होता है तथा जलवृष्टि और अग्नि आदि से होता है। अधिभूत दुख शत्रु, चौर, सर्प, व्याघ्र आदि भूतों से होता है। इन तीनों से होने वाले दुख में रहने हारा शोक चिन्ता रूप ताप उसका त्याग कर। भाव यह कि जैसे वार्तिक सार में लिखा है कि अज्ञानी को दुख दो प्रकार का होता है। एक कर्म जन्य जैसे रोग, अपमान, दरिद्रता, पुत्र

मरण आदि से दुख। दूसरा मोह जन्य कि कर्म-जन्य-दुख होने पर मन में शोक चिन्ता आदि से दुख। कर्म-जन्य दुख तो ज्ञानवान को भी होता है। परन्तु मोहजन्य दुख नहीं होता वह तत्त्व-ज्ञान से निवृत्त हुआ होता है। इस सम्बन्ध में गीता में भी कहा है कि दुख तो प्राप्त होता है परन्तु उद्वेग न करे और सुख भी प्राप्त होता है उसमें स्पृहा न करे। श्रुति में भी कहा है कि ज्ञान-वान हर्ष शोक को त्याग देता है। आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है। इस प्रकार हे मनः! अध्यात्म आदि दुखों के प्राप्त होने पर शोक चिन्ता आदि ताप का त्याग कर। किस साधन से? स्वभावेक्षणात्। अर्थ यह कि स्वरूपभाव जैसा अपना स्वरूप सत्, चित्, आनन्द, असंग, शुद्ध, सर्वदा मुक्त है उसके ज्ञान से ताप को दूर कर। तथा अनात्म रूप तीनों शरीरों का स्वभाव कि यह अनित्य, जड़, दुख रूप हैं इस प्रकार देखने से शोक आदि ताप को दूर कर। भाव यह जैसे पंचदशीकार ने कहा है कि तन्तुओं से पट को कोई वियुक्त कर लेवे, बालों से कम्बल को कोई वियुक्त कर लेवे और मृत्तिका से घट को कोई वियुक्त कर लेवे तो ज्वरों से इन शरीरों को वियुक्त कर लेगा। अर्थात नहीं हो सकते। इस प्रकार देखने से कि तीनों देह दुखरूप ही हैं फिर इनकी चिंता शोक आदि क्या करनी। इस तरह हे मनः! अध्यात्मादि दुख से होने हारे ताप को दूर कर॥

हे मनः! विषमता को त्याग कर। जैसे शत्रु-मित्र, चोर-साधु, पाप-वान-पुण्यवान, क्रोधी-शान्त, कामी-निष्कामी इत्यादि विषमता वाले पुरुषों में विषमता को त्याग कर। किस साधन से? समभाव से अर्थात सम जो समान ब्रह्म भाव है सर्व में ब्रह्म भाव

के दर्शन से । श्री भगवान ने कहा है—"निर्दोषं हि समं ब्रह्म" कि निर्दोष सम ब्रह्म है । भाव यह कि जैसे जल से पूरित एक काञ्च के घट में, जल से पूरित मृत्तिका के घट में, चाण्डाल के जल पात्र में, ब्राह्मण के जल पात्र में, मदिरा से भरे पात्र में, गंगाजल से भरे पात्र में, मूत्र के पात्रमें अवान्तर विषमता होने पर भी उनमें प्रतिबिंबित सूर्य एक है । सूर्य का कोई भेद नहीं और प्रतिबिंब भी जल मदिरा आदि के भेद होने पर भी सब में समान रूप से है कोई भेद नहीं रखता । उपाधि में गुणदोष है प्रतिबिंब में नहीं है । तैसे पूर्वोक्त विषम पदार्थों में ब्रह्म सबमें साक्षिरूप से सम है । तथा चिदाभास भी ब्रह्म के ही हैं उनमें भी कोई विषमता नहीं । किन्तु गुणदोष अन्तःकरण उपाधियों में है । इस प्रकार निश्चय करने से हे मनः ! विषमता का त्याग कर । अथवा जैसे सूर्य की धूप ब्राह्मण चाण्डाल आदि सब शरीरों के समान आकार होती है । शरीरों के भेद से धूप में भेद नहीं है । एक आकार वाली है । तैसे शत्रु मित्र आदि शरीरों की विषमता होते हुये भी ब्रह्म एक अद्वितीय है। हे मनः ! इस तरह निश्चय करता हुआ शत्रु मित्र आदि भावना का त्याग कर । यहां भावना से समदर्शन ही कहा है समवर्तन नहीं कहा गया । इस का भाव यह नहीं कि चाण्डाल आदि के साथ समवर्तन होवे किन्तु सम दर्शन हो और किसी भी प्राणी का मन से भी अनिष्ट चिन्तन न हो । सर्वदा सब के लिये सद्भावना ही करनी चाहिये । मन, वाणी, और शरीर से भी किसी की हानि नहीं करनी चाहिये ॥ हे मनः ! परकथा के विक्षेप का भी त्याग कर अर्थात दूसरों की कथा के विक्षेप को

त्याग कर। भाव यह कि देश, काल, जाति, जन समुदाय कुटुम्ब परिवार की हानी श्रवण करने से विक्षेप होता है, उसका त्याग कर। यदि एक व्यक्ति की हानि दूर करने में समर्थ हो तो उस हानी को निवारण करके विक्षेप को दूर कर। परन्तु जहां जनसमुदाय के दुख को निवारण नहीं कर सकता तो चिन्ता आदि विक्षेप से अपने साधन न छोड़ बैठे किन्तु विचार आदि से विक्षेप को त्याग दे। अथवा किसी दूसरे पुरुष शत्रु आदि ने जो साधक का दोष तर्क आदि से किसी दूसरे को कहा। उस कथन के श्रवण से जो विक्षेप होता है उसको त्याग कर। किस साधन से? अक्षोभतः। अर्थ यह कि चित्त को गंभीर बनाकर क्षोभ से रहित करके। जैसे छोटे जलाशय का जल सूर्य के ताप से गरम होता है और शरदी से शीत होता है और पशु आदि के प्रविष्ट होने पर मलिन होता है और वायु के चलने से कम्पायमान होता है तथा महान जलाशय समुद्र सूर्य करके तपे नहीं, शरदी करके शीत नहीं होता, मगरमच्छ जहाज़ आदि से मलिन नहीं होता और न ही वायु से कांपे है क्योंकि वह गम्भीर है इस कारण से क्षोभ से रहित है। तैसे ही छोटे जलाशय की तरह जो क्षुद्र चित्त हैं वह निमित्तों के आने पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, असूया आदि से क्षुभित हो जाते हैं क्योंकि वह बहुत तुच्छ हैं। और जो चित्त विचार धैर्य आदि से गम्भीर होते हैं वह निमित्तों के आने पर भी क्षुभित नहीं होते। इस लिये विचार धैर्य आदि से चित्त को गम्भीर और महान बनाकर क्षोभ से रहित होकर परकथा के विक्षेप का हे मनः! त्याग कर॥ हे मनः! धिक्कार रूप अभिभव से होने वाले निरन्तर दुख को त्याग दे।

अर्थात शत्रु आदि दूसरे पुरुषों ने किया जो धिक्कार कि तेरे को धिक है ऐसा अभिभव कहिये तिरस्कार उस से निरन्तर होने वाला जो चिन्ता रूप दुःख उसको त्याग दे। किस साधन से ? तद्योग्यता की भावना से। कि अपने में तिस धिक्कार आदि की योग्यता है इस भावना से। भाव यह कि जब साधक अपने में दोष देखता है और दूसरे ने कथन किये तो यह जाने कि सत्य कह रहा है हमारे में इनकी योग्यता है क्योंकि हमारे में दोष हैं। ऐसी भावना से चिन्ता रूप दुख को त्याग देवे। जैसे योग वासिष्ठ में कहा है। कि जो अपने शरीर में सत्यत्व की आस्था बांधे हुये हैं और जगत में सत्यत्व की आस्था बांधे हुये हैं तिन मोह मदिरा पान करनेहारों को पुनः पुनः धिक्कार है धिक्कार है। गुरू-महाराज ने भी कहा हैः—"धिग-धिग खाया धिग धिग सोया। धिग धिग कापड़ अङ्ग चढ़ाया इत्यादि"। जिसने मनुष्य जन्म पाकर इसको सफल नहीं किया, ज्ञान के साधन विवेक वैराग्यादि सम्पादन नहीं किये और ज्ञान को प्राप्त नहीं किया उसको सभी शास्त्र धिक्कार करते हैं। यदि साधक को कोई पुरुष धिक्कार करे तो वह यही जाने कि मेरे में धिक्कार की योग्यता है क्योंकि अज्ञानी हूँ। अतः मैं ज्ञान को प्राप्त करके जन्म सफल करूंगा तो धिक्कार के योग्य नहीं होऊंगा। ऐसी भावना करने से चिन्ता रूप दुख निवृत्त होगा तथा साधनों में प्रवृत्ति होगी। अथवा अकार का विश्लेश करने से "तद्योग्यताऽभावनात्" इस शब्द का अर्थ यह है कि यदि ज्ञान के साधनों में साधक तत्पर है अथवा ज्ञान को प्राप्त कर लिया

है तब अपने में धिक्कार के योग्यपने की अभावना से चिन्ता दूर करदे अर्थात दूसरे के किये हुये धिक्कार शब्द का हमारे साथ सम्बन्ध ही नहीं है कथन करने वाले के मुख और अन्तः करण के साथ ही इसका सम्बन्ध है हमारे साथ कोई नहीं। ऐसी भावना से चिन्ता का त्याग करे। जैसे मध्याह्न के सूर्य को कोई थूक फैंके तो सूर्य के साथ उसका क्या सम्बन्ध है कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह अपने में धिक्कार की योग्यता की अभावना के विचार करने से चिन्ता के दुख को दूर करदे। अष्टावक्र गीता में लिखा है कि सेवक 'पुत्र' कलत्र तथा जाति के पुरुषों करके हासी से भी धिक्कार किया हुआ ज्ञानी योगी किंचित कलेश आदि विकार को प्राप्त नहीं होता॥ हे मनः! तज्ज्ञातज्ज्ञशिशुन्क्षमस्व—तज्ज्ञ—अर्थ तिस साधक को जो जानने हारे समीपवर्ति। अतज्ज्ञ—अर्थ जो तिस साधक को नहीं जानते ऐसे जो मूर्ख अज्ञानी सो हुये शिशु छोटे बच्चे की तरह उन्होंने किया ताड़नादि अपराध तिन को क्षमा करके हे मनः सहन कर। उसका बदला मत ले अर्थात उनको मार पीट मत कर। वह शिशु क्यूँ हैं? वासिष्ठ में लिखा है कि शिशु और मूर्ख दोनों समान हैं कोई अन्तर नहीं। जैसे बालक पूर्वापर विचार से रहित है तैसे मूर्ख भी पूर्वापर के विचार से रहित है। जैसे बालक तुच्छ खिलौने आदि की इच्छा करता है तैसे मूर्ख भी तुच्छ, स्त्री, पुत्र धन आदि की इच्छा करता है। जैसे बालक अमर्याद है अर्थात मैले में हाथ डालकर मुख में डाल लेता है तथा चरणपादुका को भी मुख में डाल लेता है अर्थात मर्यादा

शून्य है तैसे मूर्ख पुरुष भी वर्णाश्रम की मर्यादा से शून्य है। जैसे शिशु मूढ़ और अविवेकी है तैसे अज्ञानी भी मूढ़ और अविवेकी है। इस लिये दोनों में कोई अन्तर नहीं। ऐसा जान कर उनको क्षमा करदे। मार पीट आदि को सहन कर। किस साधन से? एक तो कृपया अर्थात कृपा से। जैसे माता पिता को बच्चे पर अहेतुकी करुणा होती है ऐसे ही मूर्ख अज्ञानियों पर करुणा करके क्षमा कर। दूसरा कर्मक्षयात् अर्थात कर्म के क्षय के निमित्त से। भाव यह कि यदि तू भी बदला लेगा और उनको मारपीट करेगा तुम्हारे पुन्यकर्म क्षय हो जावेंगे। मानसिक श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि, वाचक स्त्रोत्रपाठादि, और शारीरिक शुभानुष्ठानादि कर्म नष्ट हो जावेंगे। इस हेतु से भी उनको क्षमा कर। अथवा कर्म के क्षय के निमित से उनके ताड़न आदि को क्षमा कर। यह जान कि इन के ताड़न आदि से जो दुख का भोग हुआ है वह शरीर की प्रारब्ध ही ऐसी थी वह भोग समाप्त हुआ इस प्रकार प्रारब्ध कर्म का क्षय जानकर उनको क्षमा कर। परकथा विक्षेप की अपेक्षा धिक्कार का दुख अधिक होता है इसलिये "तु" शब्द से विलक्षणता कही है। तथा धिक्कार से भी ताड़न का दुख अधिक होता है, वह पीछे कथन किया है। इसलिये ही क्रमशः परकथाविक्षेप फिर धिक्कार फिर ताड़न उत्तोत्तर कथन किये गये हैं॥८॥

प्रथम श्लोक में समय का विभाग कहा। और दूसरे श्लोक से लेकर आठवें श्लोक तक सद्वासनाओं से दुर्वासना की निवृत्ति का उपाय कथन किया। अर्थात दुर्वासना रूप दोष प्रबल सद्वासना

रूप गुण से ही निवृत्त हो सकता है। जैसे अर्जुन ही कर्ण के वध करने में समर्थ था चारों पाण्डव नहीं थे। भीमसेन ही दुर्योधन को मारने में योग्य था और धृष्टद्युम्न ही द्रोणाचार्य के मारने में योग्य था अन्य नहीं। इसी तरह प्रबल दैवीसम्पदा के गुण ही स्वविरोधी असुरसम्पदा के दोषों को नाश कर सकते हैं। यह पीछे कथन किया गया है। अब यह शिक्षा करते हैं कि मनुष्य शरीर में होने हारे आयु और इन्द्रियां तथा प्रज्ञा बहुत स्वल्प समय में रहने वाले हैं इस लिये साधक सावधान होकर ज्ञान प्राप्ति के लिये शीघ्र साधन करे। नहीं तो वञ्चित होकर जन्म मरण के चक्कर में ही पड़ा रहेगा—

आयुर्गच्छति पेटिकामिव जलं सन्त्यज्य देहं जवात्
गच्छन्तीन्द्रियशक्तयोपि कुलटा यद्वन्नरं निर्धनम्।
प्रज्ञा गच्छति दावदाहसमये नीडं मृगीवत्त्वरा
ज्ञात्वा सत्वरमाश्रयात्मपदवीं देहं वृथा मा कृथाः॥८॥

देह को बड़े वेग से त्याग कर आयु चली जाती है। जैसे पिटारी में भरा हुआ जल बड़े वेग से निकल जाता है उसमें ठहरता नहीं है वैसे ही देह रूप पिटारी से आयु रूप जल बड़े वेग से देह को त्याग करके जा रहा है। इसलिये हे मनः सावधान होजा। तथा शरीर में रहने वाले नेत्र श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियां और हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों की शक्तियां दर्शन श्रवणादि और ग्रहण गमनादि शरीर वृद्ध होने पर सब चली जाती हैं। जैसे पहले कोई

पुरुष धनी होवे उसके पास वेश्यायें रहती हैं। फिर निर्धन हो जाने पर उसको छोड़ कर चली जाती हैं। इसी तरह इन्द्रियों की शक्तियां भी वृद्ध होने पर चली जाती हैं। इस वास्ते पहले ही सावधान हो। जैसे जंगल में अग्नि लगने पर मृगी अपने स्थान को छोड़ कर कहीं और जगह भाग जाती है तैसे युवा अवस्था की प्रज्ञा कहिये बुद्धि भी वृद्ध होने पर मृगी की तरह शरीर से निकल कर कहीं चली जाती है। इस प्रकार जानकर अर्थात आयु, इन्द्रियों की शक्तियां और प्रज्ञा यह सब नहीं रहेंगी शीघ्रता से आत्मपदवी कहिये आत्मा ज्ञान के मार्ग को हे मनः! आश्रयण कर। मनुष्य देह को वृथा मत कर। अर्थात चौरासी लाख योनियों में भ्रमते भ्रमते यह मनुष्य शरीर अब मिला है। यदि यह व्यर्थ हो जावेगा तो फिर मिलने की आशा नहीं। इसलिये सावधान होकर आत्म-ज्ञान को सम्पादन करके मनुष्य देह को सफल कर ॥९॥

अब रूपक कल्पना को कथन करते हुये अधिकारी के साधनों को कथन करते हैं। जैसे इन्द्रादि देवता भगवान विष्णु को आश्रयण करके क्षीरसमुद्र को मथन कर उसमें से अमूल्य रत्न तथा अमृत को निकाल कर अमर हो गये तथा आनन्द को प्राप्त हुये थे। तैसे ही अधिकारी इन गुणों को प्राप्त होकर ज्ञान को पायके जीवनमुक्त और विदेहमुक्त हो जाता है। जैसे समुद्र से ही बहुत रत्न निकाले थे। तैसे अधिकारी वेदान्त शास्त्र रूपी क्षीर समुद्र का अभ्यास रूप मथन करता हुआ इन अमूल्य रत्नों को प्राप्त करे। यह कहते हैं—

धैर्यैरावतशान्तिधेनुदमनामन्दारवृक्षं सदा
मैत्र्याद्यप्सरसं विवेकतुरगं सन्तोषचिन्तामणिम् ।
आत्मज्ञानमहाऽमृतं समरसं वैराग्यचन्द्रोदयम्
वेदान्तार्णवमाश्रयन्ननुदिनं सेवस्व मुक्तिश्रियम् ॥१०॥

धैर्य रूप ऐरावत को अर्थात आपत्ति और दुखों में कायरता प्राप्त होने वाले मन को एक धैर्य रूपी वृत्ति से सावधान करता हुआ ऐरावत हाथी के सदृश तिस पर आरूढ़ होकर—ज्ञान के साधनों में बहुत प्रतिबन्धक होते हैं, धैर्य के बिना साधन नहीं हो सकते इस लिये सबसे प्रथम साधक धैर्य को धारण करे । इस श्लोक का आरम्भ भी आचार्य ने धैर्य से इसी वास्ते किया है । तथा शान्ति रूपी कामधेनु को अर्थात सर्व विक्षेपों की निवृत्ति रूप शान्ति जिस से मन और इन्द्रियों के सब विक्षेप और ताप निवृत्त हो जाते हैं । ऐसी कामधेनु को आश्रयण करता हुआ । तथा दमन रूप मन्दारवृक्ष अर्थात सर्वेन्द्रियों के दमन रूप मन्दार वृक्ष का आश्रयण करता हुआ—मन्दार वृक्ष का भावार्थ यह है कि पारिजात रूप कल्प वृक्ष सो इन्द्रियों का दमन है । जिस तरह कल्पवृक्ष के नीचे जाने पर सर्वाभीष्ट प्राप्त होते है तैसे इन्द्रियों के दमन से सर्वाभीष्ट साधन प्राप्त होते हैं । दमन शब्द के अन्त में 'आ' शब्द को दमन के साथ लगाने पर 'आ' समन्तात इन्द्रियों का दमन अर्थ होगा । अर्थात और सर्व ओर से अन्तर वासनामय बाह्य शब्दादि विषयों से इन्द्रियों का दमन करना । और मन्दार वृक्ष

के साथलगाने पर 'आ' समन्तात चारों तरफ फैला हुआ मन्दार वृक्ष रूप दमन उसको आश्रयण करता हुआ, तथा मैत्री आदि अप्सराओं को आश्रयण करता हुआ। यहां आदि शब्द से करुणा, मुदिता और उपेक्षा का ग्रहण करना। अर्थात सुखी धनवान प्राणियों में मैत्री भावना करता हुआ तथा दुखी दीनों में करुणा की भावना करता हुआ तथा पुण्यवानों में मुदिता (प्रसन्नता) की भावना करता हुआ यह अधिकारी पुरुष ईर्षा तथा निष्ठुरता (चित्त की कठोरता) को निवारण करके और असूया न करके पुण्य में मति करके और पाप की उपेक्षा करता हुआ स्थित होवे। अर्थात ईर्षा आदि दोषों के निवारणार्थ मैत्री मुदिता आदि की मन में भावना करे। सुखी धनियों आदि के साथ मित्रता आदि के करने का तात्पर्य नहीं है किन्तु भावना में तात्पर्य है। तथा विवेक रूपी उच्चैश्रवा नाम के घोड़े को आश्रयण करता हुआ अर्थात आत्मा अनात्मा का विभाग करके निश्चय करने का नाम विवेक है— आत्मा सत् है चित् है आनन्द स्वरूप है तथा अनात्मा असत्, जड़, दुख रूप है। इन दोनों को जैसे हंस क्षीर नीर को भिन्न करता है तैसे परमहंस दोनों का विवेचन करता है। ऐसे विवेक रूपी घोड़े को आश्रयण करता हुआ—यहां विवेक को घोड़ा इसलिये कहा है कि घोड़े पर बैठ कर पुरुष मार्ग में जैसे शीघ्र गमन कर सकता है तैसे विवेक ही सर्व साधनों में प्रथम साधन है, इस पर आरूढ़ होकर ही मोक्ष मार्ग के साधनों में साधक चल सकता है। तथा सन्तोष रूप चिन्तामणि को आश्रयण करता हुआ—सन्तोष का अर्थ यह है कि यथा लाभ में सन्तुष्ट होना अर्थात अप्राप्त की वाञ्छा

न करना और प्राप्त को यथा शास्त्र ग्रहण करना तथा सौम्य और सदाचार सम्पन्न रहना। इस सन्तोष रूप चिन्तामणि का आश्रयण करता हुआ-सन्तोष को चिन्तामणि इस वास्ते कहा है कि जैसे चिन्ता-मणि चिन्तित पदार्थ को प्राप्त कर देती है। ऐसे सन्तोष भी सम्पूर्ण अभीष्ट सुखों को प्राप्त कर देता है। सन्तोष से उत्तम सुख नहीं है। सन्तोष ही परम लाभ है। साधक इसका आश्रयण करता हुआ। तथा आत्मज्ञान रूप महा अमृत को निकाल कर उसको आश्रयण करता हुआ अर्थात ब्रह्म का आत्मा से ऐकत्व ज्ञान—यह आत्म ज्ञान ही हुआ महा अमृत इससे सम्पन्न होकर। भाव यह कि देवताओं का अमृत चिरन्जीव करता है, ब्रह्म प्राप्ति रूप मुक्ति को प्राप्त नहीं करता और आत्मज्ञान ब्रह्म प्राप्ति रूप मुक्ति को प्राप्त करता है इस वास्ते इस आत्मज्ञान को महा अमृत कहा है। यह आत्मज्ञान मुख्य अमृत है। देवताओं का अमृत गौण अमृत है। यह आत्मज्ञान रूप महा अमृत समरस है—समरस—सम कहिये ब्रह्म है रस जिसमें, ऐसा आत्मज्ञान रूप महा अमृत समरस। श्रुति में लिखा है कि सो परमात्मा हीं रस रूप है, परमात्मरस को पाकर ही यह विद्वान आनन्द को प्राप्त करता है। वार्तिककार ने भी कहा है कि इस रस कहिये सार, अमृम रूप ब्रह्म को आनन्द और अहलाद रूप कथन किया गया है जिस रस रूप सार करके निस्सार जगत भी साररूप करके प्रतीत होता है। श्री विद्यारण्य स्वामी ने भी अनुभूति प्रकाश में कहा है कि मूढ़ पुरुष मधुर आदि रस को आस्वादन करता है परन्तु विवेकी ज्ञानी महात्मा का ब्रह्म ही रस है। जैसे मूढ़ पुरुष मधुर रस को भोजन करके आनन्द वाला होता है

तैसे तत्त्ववेत्ता ब्रह्मरूप रस में स्थित होकर आनन्दवान होता है। इस प्रकार के आत्मज्ञान रूप महा अमृत समरस को आश्रयण करता हुआ। तथा वैराग्य रूप पूर्णिमा के चन्द्रमा के उदय–आविर्भाव को।जैसे पूर्णमाशी के चन्द्रमा का उदय ताप को मिटाकर शीतल और अहलाद करता है तैसे वैराग्य भी तृष्णाओं की निवृत्ति रूप परवैराग्य होकर चित्त को शान्त, शीतल और ताप रहित करता है। महाभारत में लिखा है कि जितना काम सुख अर्थात विषय-सुख इस लोक में है तथा जितना महत् सुख स्वर्गादि में है। वह सुख तृष्णा के नाश रूप वैराग्य की सोलहवीं कला भी नहीं। इस तरह वैराग्य रूप चन्द्रोदय को आश्रयण करता हुआ। तथा वेदान्तार्णव–वेदान्त–वेद का अन्त होवे जहां सो कहिये वेदान्त अर्थात् वेद का अन्तिम भाग-उपनिषत् है और उपनिषत् का विचार रूप शारीरक शास्त्र, गीता शास्त्र तथा उनके प्रकरण ग्रन्थ यह सम्पूर्ण शास्त्र वेदान्त कहे जाते है। यही वेदान्त ही हुआ अर्णव–समुद्र–क्षीर समुद्र इसी के मथन रूप अभ्यास से यह धैर्य आदि तथा आत्मज्ञान रूप महा अमृत तथा वैराग्य पर्यन्त महा रत्न प्राप्त हुये हैं। इस लिये यह अधिकारी इस वेदान्त रूप क्षीर समुद्र का प्रतिदिन बार बार अभ्यास करता हुआ अर्थात इसी का आश्रयण करता हुआ पूर्वोक्त सब गुणों को प्राप्त हुआ है। इसके अनन्तर जो क्षीर समुद्र से लक्ष्मी देवी का आविर्भाव हुआ। वैसे ही वेदान्ताभ्यास तथा आत्मज्ञान रूप महा अमृत से मुक्ति रूपी श्री अर्थात लक्ष्मी का आविर्भाव होता है। इस लिए हे अधिकारी जन ! इस मुक्ति रूपी लक्ष्मी का सेवन कर। मुक्ति

क्या है अर्थात् जीवनमुक्ति—जीवते हुये कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि बन्ध की निवृत्ति अर्थात कर्तृत्व आदि अभिनिवेश से रहित अपने ब्रह्म भाव में स्थिति जीवनमुक्ति है। इसका सेवन कर। तब कृतकृत्य ज्ञातज्ञेय, प्राप्यप्राप्त और हतहेय हो जायेगा। अर्थ यह कि करने योग्य श्रवण मनन आदि कर लिये हैं इससे कर्तव्य का अभाव हो गया सो कृतकृत्यता है। जानने योग्य ब्रह्म आत्म रूप से जान लिया तो ज्ञातव्य का अभाव हुआ यह ज्ञातज्ञेयता है। प्राप्त करने योग्य ब्रह्मानन्द था सो प्राप्त कर लिया इस से प्राप्त-प्राप्यता हुई और निवृत्त करने योग्य दुख आदि थे जिन के कारण अज्ञान आदि सब निवृत्त हो गये इससे हतहेय हुआ। प्रारब्ध समाप्ति के अनन्तर देह के नाश होने पर विदेहमुक्तिरूप ब्रह्म भाव की प्राप्ति तथा सर्व दुखों की निवृत्ति रूप मुक्ति को प्राप्त कर। इस का भाव यह है कि लोक दृष्टि से जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति है। जब लोकों को ज्ञानवान की देह दीखती है तो जीवनमुक्त कहते हैं और जब नहीं देखते तो विदेहमुक्त कहते हैं। परन्तु ब्रह्मवेत्ता नित्य ही मुक्त है। तो अपना ब्रह्मभाव उसको सर्वदा ही प्राप्त है इसी को ज्ञान से जाना है कोई प्राप्ति नहीं हुई क्यूंकि ब्रह्म जाना जाता है। इस लिये इस मुक्ति को सेवन कर ॥१०॥

अब ग्रन्थकार ईश्वर तथा वेद तथा गुरूप्रसाद को कथन करते हुये कृतज्ञता को सूचन करते हैं :—

प्रसादाद्दक्षिणामूर्तेः श्रुत्याचार्यप्रसादतः।
दुर्वासनाप्रतीकारदशकं रचितं मया॥

इति श्री विद्यारण्य स्वामी कृतं दुर्वासनाप्रतीकारदशकं समाप्तम्॥

दक्षिणामूर्ति—अर्थ यह कि अधिकारी जनों को ब्रह्मविद्या के उपदेश करने में कुशल है मूर्ति जिनकी ऐसे भगवान शङ्कर उनके प्रसाद से अर्थात् अनुग्रह से। भाव यह कि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति अधिकारी जनों को भगवान शङ्कर से ही होती है। जैसे कहा है "ज्ञानं महेश्वरादिच्छेत्"। अर्थात अधिकारी पुरुष ज्ञान को भगवान महेश्वर से प्राप्त करने की इच्छा करे। इस लिये सुख करने वाले भगवान महेश्वर ही ज्ञान को प्राप्त करते हैं। अथवा दक्षिण दिशा में होनेहारे मुख से अधिकारियों को उपदेश करते हैं इसलिये दक्षिण-दिशा-भिमुख वाली मूर्ति को भी दक्षिणा-मूर्ति कहते हैं। ऐसे ही श्वेताश्वतरोपनिषत् में भी लिखा है:—"जो आप का दक्षिण मुख है तिस मुख करके मेरे को नित्यही पाहि कहिये रक्षा करो" अर्थात ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर मेरे जन्म-मरण के चक्कर को दूर करो। ऐसे दक्षिणामूर्ति के प्रसाद से। तथा श्रुत्याचार्य प्रसादतः-श्रुति-वेद तथा आचार्य ब्रह्मश्रोतृ ब्रह्म-निष्ठ गुरूदेव उनके प्रसाद से कहिये अनुग्रह से मैं ने दुर्वासना-प्रतीकार-दशक की रचना की है। सो इस को अधिकारी जन श्रवण और पठन और सेवन करके सद्वासनाओं से दुर्वासनओं का प्रतीकार करे। भाव यह है कि कृपा चार प्रकार की है। (१) आत्म कृपा (२) ईश्वर कृपा (३) गुरू कृपा (४) शास्त्र कृपा। अर्थ यह कि प्रथम अधिकारी स्वयं तत्पर होकर मोक्ष मार्ग में पुरुषप्रयत्न करे यह आत्म कृपा है। अर्थात यदि यह आप पुरुषप्रयत्न न करे तो आगे की तीनों इश्वरादि की कृपायें कोई सहायता नहीं करतीं।

इस लिये सब से प्रथम आत्मकृपा है। यदि पुरुष आप ही अपना उद्धार करना चाहे तो ईश्वरादि भी इसकी सहायता करेंगे। इसलिये सब से मुख्य आत्मकृपा है। जब अधिकारी पुरुषप्रयत्न-रूप आत्मकृपा करता है तब ईश्वरकृपा होती है। भाव यह कि यदि ईश्वर कृपा न करे तो अधिकारी पुरुषप्रयत्न करते हुये भी विघ्नों करके हत हुआ मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है इस लिये अपने पुरुषार्थ के अभिमान को छोड़कर ईश्वर की सहायता भजन आदि से प्राप्त करे। जब ईश्वर कृपा करता है तब इस के विघ्न सब दूर होते हैं तथा ब्रह्मश्रोतृ ब्रह्मनिष्ठ गुरूदेव की प्राप्ति होती है। जैसे माता पिता अपने आश्रित कन्या को वर की प्राप्ति करते हैं वैसे ही ईश्वर भी गुरूदेव की प्राप्ति करता है। यह ईश्वरकृपा है। फिर सेवा और शुश्रुषा से प्रसन्न हुये गुरूदेव शास्त्र के अर्थ को यथार्थ उपदेश करते हैं। यह गुरू कृपा है तब श्रद्धा प्रेम आदि अधिकार के पूर्ण सिद्ध होने पर शास्त्र के अर्थ जैसे हैं वैसे हृदय में प्रकट होते हैं। यह शास्त्र कृपा है। श्वेताश्वतर श्रुति में कहा है कि जिसकी जैसी परमात्म-देव में पराभक्ति है तैसे ही गुरूदेव में भक्ति है उस के हृदय में ही कथन किये हुये यह उपनिषत् के अर्थ प्रकट होते हैं। इसलिये ग्रन्थकार आचार्य ने आत्मकृपा को सिद्धवत करके अर्थात् उनको प्रथम प्राप्त ही है। पश्चात् तीन कृपा ईश्वर, शास्त्र तथा गुरू के प्रसाद रूप अनुग्रह को सूचित किया है ॥ ॐ शम् ॥

इति श्री ब्रह्मविद्वर्य विरक्त मुकुटमणि श्रीमत् १०८ महाराज ब्रह्मप्रकाश कृता दुर्वासना--प्रतीकार--दशक सरल हिन्दी व्याख्या समाप्ता ॥

दूं दवर की —

॥ ॐ दुर्वासना प्रतीकार हिन्दी ॥

प्रातःकाल वेदविहित कर्म अनुष्ठान कर,
पाछे ब्रह्मविद्या के श्रवण को करो मन।
पाछे महाभारत की कथा मोक्षधर्म की,
योगवासिष्ठ के कथन को करो मन।
सांझ समय भागवत के तत्त्वों की व्याख्या,
रात बैठ चुप निदिध्यासन तुम करो मन।
व्यतीत होवे काल ऐसे शरीर के तो मरण को,
गले प्रारब्ध के अर्पण तुम करो मन॥१॥
तज दे अज्ञान मन आत्मा है ब्रह्मरूप,
ऐसी सद्भावना से सुख की जो खाणी है।
त्याग दे संकल्प मन मिथ्या संसार सब,
आकाश माहिं नीलता मरू का ज्यूं पानी है।
विषयों के साधन में साधन श्रम अधिक होवे,
कामना को त्याग मन माया तानाबानी है।
क्रोध को तू त्याग मन क्षमाशील स्वभाव से,
सन्तोष से ही होवे मन लोभ की तो हानी है॥२॥
रसना उपस्थ का सुख-भ्रम त्याग मन,
दुखः ही दुखः पाछे भोग के तो होवे है।
कटुता जो बाणी की मृदु मीठे वचन से,
त्याग वृथालाप मन मौनता से होवे है।
कुसंगता को त्याग मन साधुसंग सेवन से,
गर्व भङ्ग देख अपमान जब होवे है।

निन्दा का दुःख त्याग निन्दा किसकी हुई नाहीं,
पूज्य देव ऋषि या अवतार कोई होवे है ॥३॥
नींद को भी त्याग मन सात्विक आहार से,
स्वप्न को त्याग नित जाग्रण स्वभाव से।
रोगों का त्याग कर हित मित भोजन से,
दीनता को त्याग मन धीरता के भाव से।
अर्थों के संग्रह को अनर्थ जान त्याग मन,
धनियों का संग त्याग वैराग के स्वभाव से।
स्त्री की वाञ्छा त्याग घृणा दोष दर्शन से,
दुःखों को त्याग मन सुख आतम स्वभाव से ॥४॥
दारा की आसक्ति को अनादर से त्याग मन,
सुत--धन--आसक्ति का नाशपना धार के।
मोह के विसर्जन से स्नेह को त्याग मन,
अन्तर कठोरता को दयाचित धार के।
सज्जन और शत्रु की गनना को त्याग मन,
माया रूप जान सब उदासपना धार के।
इन्द्रिय जो दश ऐह शत्रु तेरी जान के,
त्याग दे संग मन एकान्त बास धार के ॥५॥
शीघ्रता से आलस को शमता से श्रम को,
तन्द्रा को त्याग मन उत्थान भाव ठान के।
भेद रूप भ्रम को अभेद ब्रह्म दर्शन से,
त्याग जग सत्यता मिथ्या रूप जान के।
फटकारने को त्याग मन कुशलता की वाणी से,

छेदन कर भय अप्रमाद हिये ठान के।
अपने ही दोष कह पर के न दोष देख,
क्रोध को त्याग सब अपने सम जान के ॥६॥
बीते हुये भोगों को न याद कर मेरे मन,
हाथ नहीं आवे कछु वृथा श्रम विचार के।
वर्तमान अर्थ सब नाश रूप जान मन,
त्याग भावी चिन्ता प्रारब्ध पर डार के।
विषयि और पामर की क्रिया सब त्याग मन,
कष्ट दुःख फल होये हिये विषे धार के।
द्वेष वाली बुद्धि को स्नेह से त्याग मन,
कुटुम्ब का प्यार त्याग नाशवान निहार के ॥७॥
आधि और व्याधि ताप दृश्य जान त्याग मन,
"साक्षी स्वरूप मैं" स्वभाव के विचार से।
विषमता को छोड़ मन सम रूप ब्रह्म देख,
पर--कथा--दुःख त्याग अक्षोभता विचार से।
अपमान धिक्कार के दुःख को तू सहन कर,
शरीर इसके योग्य इस उत्तम विचार से।
ज्ञाति अज्ञाति को बालक जान क्षमा कर,
कर्मों का क्षय जान ताड़न व्यवहार से ॥८॥
जैसे वहे जात जल शीघ्र ही पिटारी स्यों,
तैसे आयु देह को शीघ्र छोड़े जात है।
इन्द्रियों की शक्ति सब निकस गई तन स्यों,
नर निर्धन को ज्यों वेश्या छोड़े जात है।

जवानी वाली बुद्धि भी वृद्ध भये भाग गई,
ज्यों आग लगे बन मृगी गृह छोड़े जात हैं ।
आत्मा की पदवी का आश्रय ले मेरे मन,
देह को न वृथा खो काल बीतो जात है ॥९॥
धीरता का हाथी और शान्ति कामधेनुवत्,
इन्द्रिय दमन का मन्दार वृक्ष सेवन कर।
मैत्री आदि अपसरा विवेक के तू घोड़े चढ़,
संतोष चिन्तामणि का नित्य ही तू सेवन कर।
आत्मा के ज्ञान का अमृत रस पान कर,
वैराग रूपी चन्द्रमा की चांदनी का सेवन कर।
सागर वेदान्त का आश्रय ले नित 'पूरण'
मुक्तिरूपा लक्ष्मी का सर्वदाही सेवन कर ॥१०॥
साधक जब ज्ञान के साधनों में हो अग्रसर,
आत्मा की कृपा का आरम्भ तब होवे है।
साधन निष्काम देख ईश्वर फिर कृपा कर,
ब्रह्मवेत्ता गुरु का मेल कर देवे है ।
गुरू तब कृपा कर महावाक्य उपदेश देवें,
तत् त्वं पदार्थों की एकता होय जावे है ।
शास्त्र की कृपा फिर अर्थ सब स्पष्ट होवें,
साधक होय ब्रह्म रूप मुक्ति वह पावे है ॥११॥
चारों इन कृपा का फल रूप दशक यह,
नाम दुर्वासना प्रतीकर जानिये ।